हिन्दी पत्रकारिता

प्रिंट संस्कृति के बदलते परिदृश्य (1900–1940)

अविनाश कुमार

इस आलेख का उद्देश्य तत्कालीन हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के विस्तृत फ़लक के एक सामान्य सर्वेक्षण द्वारा हिन्दी प्रदेश में बनते-बदलते छपाई के परिदृश्य की पड़ताल करना है। जब हम इन पत्रिकाओं को तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलनों से जोड़कर देखते हैं तो यह प्रिंट-परिदृश्य और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। विभिन्न तरह के उद्देश्यों से प्रेरित लोगों (जिनमें प्रचार और शिक्षा दोनों शामिल थे) ने इन पत्रिकाओं के माध्यम से तत्कालीन बहसों को ठोस रूप दिया, पर जल्दी ही उन्हें उन लोगों की चुनौती का सामना करना पड़ा, जो अकादमिक संस्थानों, स्कूलों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों आदि के भीतर से बतौर 'विशेषज्ञ' अपनी पहचान बना रहे थे। उनकी डिग्रियाँ (चाहे वे सरकारी शिक्षण संस्थानों से हों या फिर आर्य समाज द्वारा चलाए जा रहे संस्थानों से) उनके नामों के साथ लेखों में, उनके उस विषय पर 'अधिकारी' होने के सबूत में छापी जाती थीं। पर साथ ही, इन्हीं पत्रिकाओं में सामान्य पाठक और सामान्य लेखक भी लगातार लिखते रहे। इस प्रक्रिया में न सिर्फ़ उनके आपसी संघर्ष तेज़ हुए, बल्कि उन्होंने एक-दूसरे को भी बदला, और पत्रिकाओं के स्वरूप को भी। इस संदर्भ में महत्वपूर्ण विचारणीय बिंदु यह होगा कि किस प्रकार 'बाहरी दुनिया' हिन्दी पाठकों के सामने परोसी जा रही थी और साथ ही किस प्रकार इस 'हिन्दी विश्व' की आकांक्षाओं को 'बाहरी दुनिया' के बरक्स स्वर देने की कोशिशें चल रही थीं। यह उस वक़्त हो रहा था जब 'हिन्दी जगत', बतौर एक विचार, खुद अपनी शक्ल अख़्तियार करने की प्रक्रिया में था। एक उच्च भारतीय/हिन्दी संस्कृति की स्थापना की प्रक्रिया में शुरुआती कोशिश यह थी कि अधिक से अधिक विषयों पर नज़र डाली जाय, उन पर विचार किया जाय। पर एक ओर जहाँ एक ऐसी अभिजात संस्कृति के निर्माण की आकांक्षा थी तो दूसरी ओर एक धीरे-धीरे पर निरंतर फैलते पत्रिकाओं के बाज़ार में अपनी पैठ बनाने की कोशिश भी थी। इस तनाव से निकली प्रक्रिया की परिणति आगे चलकर 'साहित्य' की संकुचित किन्तु वर्चस्वकारी परिभाषा में हुई।

पत्रिकाओं के सर्वेक्षण के क्रम में इस निबंध के केंद्र में मुख्यतः तीन बिन्दु होंगेः भौगोलिक विस्तार, वैचारिक-सैद्धान्तिक रुझान और उनमें प्रकाशित विज्ञापनों की प्रकृति। आख़िरी बिन्दु इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि अक्सर उनमें छपने वाले विज्ञापनों और उन पत्रिकाओं की अभिजात संस्कृति के निर्माण की आकांक्षाओं के बीच एक खाई-सी बनती दीखती है। एक ओर व्यावसायिक दबाव थे तो दूसरी ओर संपादक से लेकर सामान्य पाठकों तक की अपनी बौद्धिक आकांक्षाएँ थीं।

प्रतिभाका मूल्य !

लेखक—रात-रात भर जाग लिखी है पुस्तक बड़े परिश्रमसे ।
शब्द-शब्दमें रक्त-बिन्दु है खपा, देखिये तो मनसे ॥
नयी कल्पना, नयी सूझ है, घटना भी है क्रान्तिमयी ।
भाषा गद्यकाव्य-सी सुन्दर, बरसोंमें है लिखी गयी ॥
प्रकाशक—पुस्तकमें कुछ तत्त्व नहीं है, पुरस्कारकी करो न बात ।
सात फार्मकी पुस्तक होगी, काफी हैं रुपये छः-सात ॥
सुन्दर जिल्द, सुनहले अक्षर, रंग-बिरंगे चित्र सजा ।
ठाट-बाटसे छापूँगा, हो जाओगे विख्यात महा ॥

बीसवीं सदी की शुरुआत में हिन्दी जगत की छापे की संस्कृति 'भारतेन्दु-युग' के बाद के दौर में प्रवेश कर चुकी थी, जिसके तहत महत्वपूर्ण सांस्थानिक बदलाव हो रहे थे। एक ओर 1885 में बंगाली प्रवासी चिंतामणि घोष ने इलाहाबाद में इंडियन प्रेस की स्थापना की तो दूसरी ओर छात्रों के एक छोटे गुट ने श्याम सुंदर दास की अगुआई में 'पेनी रीडिंग क्लब' की तर्ज़ पर 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना 1893 में की। 1900 में ही संयुक्त प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) के तत्कालीन गवर्नर लॉर्ड एंथनी मैकडॉनल ने नागरी को सरकारी अदालतों में प्रयोग की इजाज़त दी। कुछ ही वर्षों के भीतर 1910 में इलाहाबाद में ही 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की स्थापना और फिर 1916 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना ने एक निरंतर फैलते सार्वजनिक क्षेत्र को ठोस रूप देने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाईं। इन सभी संस्थानों से जुड़ी बहसें भी तत्कालीन पत्रिकाओं के माध्यम से खुलकर सामने आईं।

पत्रिकाओं की रूपरेखा

इंडियन प्रेस द्वारा 1900 में *सरस्वती* के प्रकाशन से सामान्यतया हिन्दी प्रकाशन के एक नए युग की शुरुआत मानी जाती है। इसके पहले अंक में प्रकाशक ने अपने वक्तव्य में हिन्दी भाषा के विकास और शिक्षितों की 'सौंदर्यशास्त्रीय' आकांक्षाओं के बीच एक संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया:

> इसके नवजीवन धारण करने का केवल यही मुख्य उद्देश्य है कि हिन्दी रसिकों के मनोरंजन के साथ ही साथ भाषा के सरस्वती भंडार की अंगपुष्टि, वृद्धि और यथार्थपूर्ति हो, तथा भाषा सुलेखकों की ललित लेखनी उत्साहित और उत्तेजित होकर विविध भावभरित ग्रंथराजि को प्रसव करै।[1]

पर साथ ही *सरस्वती* ने हिन्दी पत्रकारिता में विषय के स्तर पर काफ़ी विस्तृत फ़लक को सामने रखा। समाज सुधार से लेकर वैज्ञानिक प्रयोग, इतिहास, पुरातत्व, स्त्री विमर्श, शिक्षा से लेकर यात्रा वृत्तांत तक इसकी ज़द में शामिल थे।[2] द्विवेदी ने खुद पश्चिमी दर्शन और राजनीतिक विचार (बेकन और मिल के लेख इसमें शामिल थे) आदि पर कई निबंध अनूदित किए। द्विवेदी इन अर्थों में एक क्लासिक *मैन ऑफ़ लेटर्स* की भूमिका निभा रहे थे।[3] शुरुआती दौर में हिन्दी के गद्य लेखक इतने कम थे कि द्विवेदी को खुद ही अनेक उपनामों से लेख लिखने पड़े। 1903 में, जो कि उनके संपादन का पहला साल था, *सरस्वती* में द्विवेदी के पचपन प्रकाशित लेखों के मुक़ाबले बाक़ी लेखकों के कुल लेखों की संख्या केवल 19 थी।[4] *सरस्वती* के ही कुछ अंकों की विषय-वस्तु को ध्यान से देखने पर तत्कालीन पत्रिकाओं के बदलते स्वरूप का जायज़ा लिया जा सकता है। इसके पहले ही अंक (जनवरी 1900) में पं. किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी *इंदुमती* छपी थी, एक ऐतिहासिक कहानी, जो मोटे तौर पर शेक्सपियर के *टेम्पेस्ट* पर आधारित थी और इसे हिन्दी की पहली कहानियों में गिना जाता है। उसी अंक में एक दूसरी कहानी *चंद्रलोक की यात्रा* भी छपी थी जो स्पष्टतया किसी विदेशी वैज्ञानिक कहानी पर आधारित थी। ग़ौरतलब यह है कि खड़ी बोली गद्य के उन शुरुआती दिनों में ही विषय-वस्तु के स्तर पर अनेक प्रयोग हो रहे थे, भले ही छायानुवादों या छायाकृतियों के माध्यम से। प्रकाशन के अपने पहले साल में ही *सरस्वती* में दो महत्वपूर्ण आलोचनात्मक लेख भी छपे, 'हम्मीर हठ' और 'पं. श्रीधर पाठक की कविता'।

एलिज़ाबेथ आइज़ेंस्टाइन ने कहा है कि "पाठकों के विचार पुस्तकों की विषय-वस्तु के क्रमवार नियोजन और प्रस्तुति के आधार पर ही निर्देशित होते हैं"।[5] शायद यही विचार उस वक़्त के संपादकों के भीतर भी कहीं था। *सरस्वती* के पहले दो आमने-सामने के पृष्ठ ऊपरी तौर पर सामान्य, पर महत्वपूर्ण विषयों पर केन्द्रित थे। बाईं ओर किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति की तस्वीर छपी होती थी, जिस के बारे में एक संक्षिप्त नोट अंक में कहीं और दिया होता था। इन फ़ोटोग्राफ़ों में तत्कालीन वायसरॉय, इंग्लैण्ड के शासक आदि शामिल थे (पत्रिका के राजभक्त रुख़ की ओर इशारा करते हुए), पर ज़्यादातर वे ऐसे लोगों के होते जिन्होंने भारत के लिए या फिर अपनी जाति या समुदाय के लिए या फिर पूरी 'हिन्दी जाति' के लिए कुछ 'महत्वपूर्ण योगदान' दिया हो। दूसरी तरफ़ के पृष्ठ पर पत्रिका का

स्थायी स्तंभ 'विविध विषय' छपता था, जिसमें ज़्यादातर अन्य क्षेत्रीय भाषाओं या विदेशी समाचार-पत्रों से ली गईं छोटी-छोटी ख़बरों के साथ उन पर संपादकीय टिप्पणियाँ छपती थीं। 'स्थानीय समुदाय' के बरक्स ज़्यादा 'विस्तृत समुदाय' (जो कि भारत के अन्य क्षेत्रों से लेकर पूरे विश्व तक फैला हुआ था) के प्रश्न पर यह सचेत ध्यान शायद संपादक से लेकर पाठकों तक के भीतर था। मदन मोहन मालवीय द्वारा स्थापित और संपादित *मर्यादा* के भी एक अंक पर निगाह दौड़ाने से तत्कालीन पत्रिकाओं का स्वरूप ज़्यादा स्पष्ट होगा। जनवरी 1916 के अंक में मुखपृष्ठ पर अंग्रेज़ी वर्ष के साथ-साथ विक्रमी सन् भी दिया हुआ था, और साथ ही पत्रिका का वार्षिक मूल्य रु. 3 और एक अंक का डेढ़ आना भी छपा था। भीतर पहले पृष्ठ पर विषय-सूची और पत्रिका की नियमावली दी हुई थी। नियमावली पत्रिकाओं को भेजे जाने वाली रचनाओं और विज्ञापनों से संबंधित थी। विषय-सूची के कुल 15 विषयों में 6 कविताएँ थीं, जो कि तत्कालीन परिदृश्य में इस साहित्यिक विधा के महत्व की ओर इशारा करता है। दिलचस्प बात है कि इसमें कोई कहानी नहीं थी, पर तब चल रहे प्रथम विश्वयुद्ध पर दो निबंध और दो यात्रा-वृत्तांत थे। दोनों यात्रा वृत्तांत अंतर्राष्ट्रीय थे जिनमें से एक जापान पर केंद्रित था जिसका शीर्षक 'स्वाधीन एशिया की राजधानी' था, जो ज़ाहिर तौर पर इस लेख के मूल उद्देश्य की तरफ़ इशारा करता है। भगवान कृष्ण पर एक धार्मिक-दार्शनिक लेख जो कि उस वक़्त उन विषयों पर प्रचुरता से लिखने वालों में से एक लाला कन्नोमल, एम.ए. द्वारा लिखा गया था। दो निबंध तब की प्रसिद्ध अंग्रेज़ी पत्रिका *मॉडर्न रिव्यू* से लिए गए थे और शिक्षित हिन्दुओं के भविष्य पर केंद्रित थे। एक शुरुआती नोट 'हमारा नूतन वर्ष' पर लिखा गया था, जिसमें पत्रिका द्वारा झेले जा रहे अनेक संकटों का ज़िक्र था, पर साथ ही यह आशा भी कि चूँकि इसका प्रकाशक अभ्युदय प्रेस अब एक 'लिमिटेड कंपनी' बन चुका था, इसलिए इसका पुनरुद्धार संभव था। साथ ही साथ इसमें चिर-परिचित नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक उत्थान की बात थी (ताकि अपनी जड़ें जमा चुकी अवांछित 'मर्यादा' को नष्ट कर जनता की 'मर्यादा' को सुरक्षित रखा जा सके)। यहाँ यह तथ्य नोट करने लायक है कि जहाँ संपादकों द्वारा झेली जा रही वित्तीय/आर्थिक मुसीबतों का सार्वजनिक ज़िक्र एक प्रचलित परिपाटी के रूप में स्थापित हो चुका था, वहीं दूसरी ओर बाद के कुछ संपादकों, जैसे माखनलाल चतुर्वेदी और प्रेमचंद ने यह 'सार्वजनिक' नीति अपनाई थी कि वे ऐसी मुसीबतों के बारे में ज़िक्र नहीं करेंगे। पर इस पक्ष पर विचार थोड़ा बाद में।

मूलभूत उद्देश्य

इतिहासकार क्रिस बेली के अनुसार, "जहाँ एक स्वार्थ आधारित समुदाय विकसित हुआ, चाहे वो औपचारिक रूप से 'जाति' हो, या फिर धार्मिक या ग़ैर-धार्मिक मुद्दों पर निर्मित संगठन, यह चार महत्वपूर्ण तत्वों के संयोजन को प्रतिबिम्बित करता था: एक सक्षम विचारधारा, प्रचारक, छापेख़ाने और सहायक, समर्थक"।[6]

दो साल के अपने संपादकत्व के बाद पत्रिका का सालाना मूल्यांकन करते हुए द्विवेदी ने जहाँ पत्रिका की खपत में हुई दोगुनी बढ़त पर संतोष जताया, वहीं उन्होंने इसके आगे के सुधार के कुछ मुख्य क्षेत्र रेखांकित किए। कुछ पाठकों द्वारा पत्रिका की भाषा के क्लिष्ट होने की शिकायत का ज़िक्र करते हुए उन्होंने आगे सुधार का वादा किया, क्योंकि उनके अनुसार कोई भी भाषा मात्र कुछ लोगों की होकर समाज के लिए उपयोगी नहीं हो सकती थी।[7] पर साथ ही उन्होंने यह भी लिखा कि चूँकि यह प्रस्ताव सबको एक रूप से मान्य नहीं था, यह जानना ज़रूरी है कि विषयों की गंभीरता के अनुरूप ही भाषा बनती-बदलती है और इसलिए पूरी भाषा को एक जैसा सहज और सुबोध नहीं बनाया जा सकता। संप्रेषण की इस तकनीक के इन शुरुआती दिनों में भी जहाँ यह माध्यम इस तरह नए पाठकों को जोड़ रहा था, वहीं ग़ौरतलब यह भी है कि किन आधारों पर इसी माध्यम में बदलाव की वकालत की जा रही थी। मुख्य रूप से इसका आधार वर्तमान समाज के लिए उसकी उपयोगिता या सीधा लाभ था जो कि 19वीं सदी के उपयोगितावाद के सिद्धान्त से काफ़ी हद तक जुड़ा हुआ था। उपयोगितावाद के इसी सिद्धान्त के आधार पर द्विवेदी ने उन लेखों के प्रकाशन पर ज़ोर दिया जो 'उपयोगी और समझ आने लायक' हों। इसके लिए उन्होंने लेखकों से 'लाभदायक और रोचक' लेख भेजने की अपील की। इसी बात को ध्यान में रखते हुए पत्रिका के चित्रों की ख़राब छपाई की आलोचना का जवाब देते हुए उन्होंने पाठकों से उनके साथ लिखे गए संक्षिप्त नोट पर ज़्यादा ध्यान देने को कहा, चूँकि 'चित्र कम महत्व के' थे। पर द्विवेदी के भीतर का द्वंद्व ख़ुद उभर आता है जब उसी सांस में वह

हिन्दी को अंग्रेज़ी और संस्कृत के बरक्स स्थापित करते हुए उसे एक ऐसी अभिजात भाषा के रूप में देखना चाहते हैं जो जटिल और संश्लिष्ट विचारों को सम्प्रेषित कर सके। बावजूद इस सबके अख़बारी पत्रकारिता की अपेक्षाकृत ताज़ा शुरुआत के प्रति सजगता और संपादकीय कौशल, इन दोनों ही बातों ने तत्कालीन परिदृश्य को ख़ास शक्ल देने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन्हीं कारणों से द्विवेदी ने पश्चिम के प्रसिद्ध अख़बारों और पत्रिकाओं के तुलनात्मक अध्ययन पर ज़ोर देते हुए उनके माध्यम से पत्रकारिता की तकनीकों, उनके माध्यम से आ रहे नए विचारों और उनमें छपे निबंधों के स्वरूप की जानकारी पर ध्यान देने की बात की। इस काम के लिए ख़ुद उन्होंने *द टाइम्स* जैसे पश्चिम के प्रसिद्ध अख़बारों पर परिचयात्मक लेख लिखे और सेंट निहाल सिंह जैसे लोगों के लेख छापे जो पश्चिम और जापान की अख़बारी दुनिया में काफ़ी नाम कमा चुके थे।[8]

इस सन्दर्भ में यह दिलचस्प है कि एक पत्रिका को निकालने का काम नैतिक और सामाजिक ज़िम्मेदारी का काम समझा जाता था। इन्हीं विचारों के प्रभाव में द्विवेदी ने उस वक़्त रेलवे की अपनी बढ़िया नौकरी (रु. 150/- मासिक) छोड़कर यह काम मात्र रु. 20/- मासिक + रु. 3/- डाक ख़र्च पर स्वीकार कर लिया। पत्रकारों की समाज सुधारक और जनमत निर्माता की यह छवि ही थी जिसके कारण द्विवेदीजी जैसे लोगों ने ख़ुद अपने लिए एक नैतिक आचार संहिता तैयार की। अपने संस्मरण में द्विवेदी जी ने इनमें से प्रमुख चार को गिनाया है: 'समय की पाबन्दी, मालिकों का विश्वासभाजन बनने का प्रयत्न करना, अपना नहीं बल्कि पाठकों के हितों का ख़याल करना और सत्य पर अटल रहना'।[9] 'मालिकों का विश्वासभाजन' बने रहने की अपनी नीति के अनुसार जहाँ द्विवेदी राज्य सत्ता के सख़्त नियंत्रण के उस दौर में राजनीतिक रूप से विवादास्पद और ख़तरनाक मुद्दों को उठाने से बचते रहे वहीं वह पत्रिकाओं की 'प्रचारक और प्रोपैगैण्डा' क्षमता से भी परिचित थे। *कर्मवीर* के लेखक-संपादक माखनलाल चतुर्वेदी ने भी अपने लिए ऐसी ही आचार संहिता बना रखी थी जो पत्रकारिता के प्रति उनकी आदर्शवादी और मिशनरी रुख़ को प्रतिबिंबित करता है।[10]

प्रेमचंद ने ऐसे ही विचार व्यक्त करते हुए लिखा था कि पत्रकारिता का निर्णय उनका अपना था और इसलिए उन्हें पाठकों से आर्थिक सहायता मांगने का कोई हक़ नहीं था। यह उनका धर्म था कि वह इसके प्रति अटल रहें और धर्म कभी अर्थ से नहीं जोड़ा जा सकता।[11] द्विवेदी जी ने ख़ुद ऐसे अनेक प्रलोभनों का ज़िक्र किया था जो उन्हें समय-समय पर स्थानीय, प्रांतीय नेताओं आदि के जीवन-वृत्त, राजनैतिक साहित्यिक भाषण आदि प्रकाशित करने के एवज़ में दिए गए थे। यह तथ्य इस ओर भी इशारा करता है कि तब तक न सिर्फ़ प्रकाशन की दुनिया ने अपनी एक हैसियत बना ली थी बल्कि पत्रकारिता और छपाई के माध्यम से राजनैतिक, सामाजिक संभावनाओं को लोग तेज़ी से पहचान रहे थे।[12] ख़ास वर्गों, समूहों की राजनैतिक-सामाजिक महत्वाकांक्षाओं को स्वर दे सकने की इन्हीं संभावनाओं ने बाद के वर्षों में नए मोड़ लिए जिसके तहत 'राजनैतिक पत्रकारिता' एक अलग विधा के तौर पर विकसित हुई और जिसने एक साथ कई व्यक्तियों के राजनैतिक करियर को स्थापित किया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चूँकि अधिकांश पत्रिकाएँ छपाई के नए स्वरूप से तब भी दो-चार होने की कोशिश कर रही थीं, उनमें से अधिकतर काफ़ी बड़े फ़लक पर फैले विषयों को अपने कलेवर में समेटने का यत्न कर रही थीं। यह बाद में जाकर हुआ कि कई सांस्थानिक बदलावों के साथ-साथ उनमें से कई ने कुछ ख़ास विषयों, पहलुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करना शुरु किया। 1930 के दशक तक भी स्थिति यह थी कि पत्रिकाएँ स्थानीय समाचार, दैनंदिन की ख़बरें भी, एक अख़बार की तरह नियमित रूप से छापती थीं। छपाई की

ताक़त को इसी संदर्भ में रेखांकित कर उसकी पहचान की गई थी। द्विवेदी ने ऐसे संदर्भ में पत्रकारिता की ख़तरनाक प्रवृत्तियों की ओर इशारा करते हुए एक लंबा व्यंग्यात्मक प्रहसन लिखा था। 'अख़बारों के विशाल रूप' की तुलना *गीता* में अर्जुन को दिखाए गए कृष्ण के विशाल रूप से करते हुए उन्होंने समाचार पत्रों के कई रूपों, 'वृत्तपत्र, वर्तमान पत्र, समाचार पत्र, गज़ट' आदि का हवाला दिया। संपादक के कार्य पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा कि उसका प्रमुख कार्य अंग्रेज़ी समाचारपत्रों से नक़ल मारना है, किसी भी तरीक़े से पैसे कमाना है, जिनमें नशीले पदार्थ, घड़ियों, किताबों आदि को बेचना तक शामिल है, संस्थान खोलना शामिल है, वग़ैरह। इस तरह उस की 'पॉलिसी' घनघोर अंधकार में रहना है भले ही वह दूसरों को 'प्रकाश में खींच लाने' का दावा हमेशा करता रहे।[13]

अतः जहाँ एक ओर पत्रकारिता की छवि पूरी तरह नैतिक उत्तरदायित्व से लैस थी, वहीं दूसरी ओर इसकी 'व्यावहारिक, व्यावसायिक', क्षमताओं का पक्ष भी समकालीन बुद्धिजीवियों के ध्यान से बाहर नहीं था। अंग्रेज़ी के पद 'पॉलिसी' और उसका प्रयोग तत्कालीन पत्रकारिता के संदर्भ में उन दिनों बड़े पैमाने पर ख़ास अर्थों में ही हो रहा था। उस वक़्त के एक और प्रसिद्ध पत्रकार-लेखक बाबू बालमुकुन्द गुप्त (1865-1907) जो *भारतमित्र* (1899-1907, कलकत्ता) दैनिक के संपादक थे, ने उर्दू और हिन्दी पत्रकारिता पर कई धारावाहिक निबंध लिखे जिनमें उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि किसी भी अख़बार की एक 'पॉलिसी' होनी ज़रूरी है। *फ़िसाना-ए-आज़ाद* के प्रसिद्ध लेखक और उस समय के प्रसिद्ध उर्दू अख़बार *अवध अख़बार* (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा प्रकाशित) के संपादक पं. रतननाथ सरशार की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा, "साहित्य की दृष्टि से यह लेख बुरे नहीं थे पर एक दैनिक पत्र में प्रकाशित होने की दृष्टि से सर्वथा अयोग्य थे। संभव है कि वह एक अख़बार में लिखने के क़ाबिल नहीं क्योंकि मैंने किसी भी सामाजिक अथवा राजनीतिक विषय पर उनका लिखा कोई गंभीर लेख कभी भी नहीं पढ़ा।"[14] महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि गुप्त साहित्यिक उद्देश्य के तहत किए गए लेखन और समाचार पत्रों के लिए किए गए लेखन में फ़र्क़ कर रहे थे और यह फ़र्क़ किसी तकनीकी कारण से नहीं किया जा रहा था, बल्कि तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों और उनके संप्रेषण की संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए किया जा रहा था। इसी तरह लाहौर से प्रकाशित होने वाले उर्दू अख़बार *कोहेनूर* के बारे में उन्होंने लिखा, "इसकी कोई 'पॉलिसी' नहीं थी। अगर वैसा कुछ कह सकते हैं तो यह कि किसी को छेड़ो मत। इसकी 'पॉलिसी' अलग-अलग संपादकों की अलग-अलग रुचियों के अनुसार बदलती रही। सच तो यह है कि उस वक़्त देसी अख़बारों की कोई तय 'पॉलिसी' ही नहीं होती थी।"[15] गुप्त की राजनीतिक, सामाजिक पक्षों के प्रति सजगता, जो उनके अख़बारों के पूरे स्वरूप के प्रति ख़ास दृष्टिकोण से जुड़ी हुई थी, ने उन्हें अपने अख़बारी जीवन के शुरुआती दौर में ही क़ीमत चुकाने को विवश किया। *दैनिक हिन्दोस्तान* के संपादकीय मण्डल ने (जिसमें मदन मोहन मालवीय, प्रताप नारायण मिश्र और अमृतलाल चक्रवर्ती, जो बाद में बंबई से प्रकाशित *वेंकटेश्वर समाचार* के संपादक बने, जैसे विशिष्ट लोग शामिल थे) तब गुप्त जी को (फ़रवरी, 1891) अख़बार से निकालने का फ़ैसला किया जब इसके मालिक कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह व्यक्तिगत कार्य से कुछ दिनों के लिए बाहर जा रहे थे और उन्हें आशंका थी कि उनके पीछे गुप्त पता नहीं क्या कर बैठें।[16]

बतौर *भारतमित्र* के संपादक, अपने अख़बारी जीवन के अगले और सबसे महत्वपूर्ण दौर तक गुप्त ने यह सबक़ सीख लिया था कि खुलकर यह मान सकें कि मालिकों के हितों की रक्षा करना संपादकों की विवशता है। जहाँ एक ओर उन्होंने यह दावा किया कि अख़बार अपने स्वरूप में राजनीतिक है और हिन्दी प्रचार तथा राजनीतिक चर्चा इसके मुख्य उद्देश्य हैं, वहीं दूसरी ओर उन्होंने स्वीकारा कि "चूँकि सनातनी हिन्दू इसके मालिक हैं, ज़रूरत पड़ने पर उनका पक्ष लेना इसकी नीति शुरु से रही है"।[17]

दूसरी तरफ़ *विशाल भारत* के संपादक बनारसी दास चतुर्वेदी ने इसके मालिक रामानंद चटर्जी (जो कि साथ ही प्रसिद्ध बांग्ला पत्रिका *प्रवासी* और अंग्रेज़ी शोधपत्रिका *मॉडर्न रिव्यू* के संपादक, प्रकाशक दोनों ही थे) से अपने संबंध खुले तौर पर एक 'महत्वपूर्ण सूचना' के अंतर्गत शुरु में ही साफ़ कर दियेः "अगले अंक से श्री रामानंद चट्टोपाध्याय की राजनीतिक टिप्पणियाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित की जाएंगी। परन्तु वह अन्य समादृत लेखकों की हैसियत से ही इसमें लिखेंगे और अपने विचारों के लिए ज़िम्मेवार भी स्वयं ही होंगे। *विशाल भारत* के दिशा-निर्देश

संबंधी नीतियों के लिए उन्होंने हमें पूरी स्वतंत्रता दी है"।[18]

मारियोला ऑफ़रेदी के अनुसार, उस दौर में जिस 'हिन्दी बुद्धिजीवी' की भूमिका ठोस शक्ल अख़्तियार कर रही थी वह ऐसे लोगों की थी जो शुरुआत में राजनीतिक गतिविधियों के माध्यम से अपनी पहचान बना चुके थे, और इसी के माध्यम से 'प्रगतिशील पत्रकारिता' के द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी वैधता स्थापित कर रहे थे।[19] उस वक़्त के प्रसिद्ध दैनिक *आज* के संपादक बाबूराम विष्णु पराड़कर का उल्लेख वह इस संदर्भ में करती हैं। पर यह प्रक्रिया एकतरफ़ा नहीं थी। मदन मोहन मालवीय, पुरुषोत्तम दास टण्डन, माखनलाल चतुर्वेदी, गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे कई लोग थे जिन्होंने पहले अपनी पहचान पत्रकारिता के माध्यम से बनाई और उसके बाद ही सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्त्ता बने। इस संदर्भ में महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे कथित रूप से 'ग़ैर-राजनीतिक' लोग जो 'सामाजिक-साहित्यिक' सवालों पर अपना ध्यान केंद्रित कर रहे थे, उन्हें भी अराजनीतिक या 'पिछड़ा' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक ओर तो इन्हीं विषयों पर ध्यान केंद्रित कर वह राजनीतिक हस्तक्षेप कर रहे थे, तो दूसरी ओर द्विवेदी अवध के किसानों की हालत, भारतीय अर्थव्यवस्था पर 'संपत्ति शास्त्र' जैसी किताबें लिखकर ब्रिटिश व्यवस्था की आलोचना ही कर रहे थे। दूसरी तरफ़ यह समझ कि 'राजनीतिक ट्रेनिंग', बुद्धिजीवियों को प्रगतिकामी बना रही थी, अधूरी ही नहीं, ग़लत भी है। इसका उदाहरण हिन्दी प्रदेश के तत्कालीन कई बुद्धिजीवी थे। इन मायनों में परस्पर विरोधाभासी प्रवृत्तियाँ उस युग की एक पहचान-बिन्दु थीं।

लेकिन भारतेन्दु से द्विवेदी तक चली आई इस परम्परा ने बीसवीं सदी के दूसरे दशक से एक निर्णायक मोड़ तब लिया जब मुख्य रूप से राजनीतिक पत्रिकाओं का दौर शुरु हुआ, जिनमें *अभ्युदय, प्रताप, मर्यादा, कर्मयोगी, कर्मवीर* और *सैनिक* शामिल थीं। माखनलाल चतुर्वेदी — जो माधवराव सप्रे और विष्णुदत्त शुक्ल द्वारा स्थापित *कर्मवीर* (1920, जबलपुर, फिर खण्डवा) के पहले संपादक थे, ने पत्रकारिता के मिशन को राजनीति से जोड़कर ख़ुद पत्रकारिता को भी नए आयाम दिए।

इन नए आयामों में कांग्रेस पार्टी के पक्ष में जनमत तैयार करना भी एक महत्वपूर्ण पक्ष था। यह अकस्मात् नहीं है कि सुभाष चन्द्र बोस जैसा व्यक्ति भी इन पत्रिकाओं की सार्वजनिक भूमिका को स्वीकार करता था।[20] उधर प्रांतीय स्तर पर कई प्रतिष्ठित संपादक कांग्रेस के स्थानीय प्रतिनिधि भी बने। माखनलाल मध्य भारत के कांग्रेस संसदीय दल के अध्यक्ष चुने गए और 1937 के चुनावों में उनकी ही अध्यक्षता में कांग्रेस को जीत भी मिली। इसी प्रकार, विद्यार्थी भी विभिन्न पदों पर रहे, जैसे अखिल भारतीय कांग्रेस स्वागत समिति के सचिव, प्रांतीय परिषद के सदस्य, प्रांतीय कांग्रेस कमिटी के अध्यक्ष इत्यादि। *सैनिक* के सम्पादक श्रीकृष्ण दत्त पालीवाल भी उत्तर प्रदेश प्रांतीय कांग्रेस समिति के अध्यक्ष पद पर आसीन रहे थे। मदन मोहन मालवीय का राजनीतिक जीवन मुख्यतः हिन्दू महासभा और कांग्रेस के इर्द-गिर्द केन्द्रित रहा, जिसकी वजह से उन्हें अपना सम्पादकीय काम छोड़ना पड़ा। उसी तरह सम्पूर्णानन्द, जो कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के प्रसिद्ध नेता थे और बाद में उ.प्र. के मुख्यमंत्री भी बने, ने कुछ दिनों तक *मर्यादा* का सम्पादन भी किया था।

लेकिन गुप्त के मुताबिक़ हिन्दी अख़बारों की धीमी प्रगति का कारण निम्न प्रसार-संख्या रही जो कि साक्षरता के निम्न स्तर के कारण थी। साथ ही देशी अख़बारों में प्रकाशित ज़्यादातर सामग्री अंग्रेज़ी समाचार पत्रों से 'उड़ाई हुई होती थी' और हिन्दी पाठक-वर्ग तब तक नहीं बढ़ सकता था जब तक हिन्दी अख़बारों में उन्हें पढ़ने को कुछ अलग न मिले। इस अर्थ में हिन्दी दैनिक तो आज भी स्वावलंबी नहीं कहे जा सकते।[21] द्विवेदी भी उसी तरह अपने लेखकों के नक़लची होने का रोना रोते दिखाई देते हैं। उनके लेखक अंग्रेज़ी के अलावा बांग्ला, मराठी इत्यादि भाषाओं से भी नक़ल कर रहे होते हैं। यानी उन भाषाओं से, जो अधिक विकसित हैं।

धीरे-धीरे हम पाते हैं कि अधिक विशिष्ट प्रकाशनों का दौर शुरु होता है। *सरस्वती* विशिष्ट साहित्यिक रूपाकार लेने लगी। उसमें आधी से ज़्यादा सामग्री साहित्यिक होने लगी। इसी प्रकार बाद की पत्रिकाओं यथा *प्रभा, माधुरी, चाँद, विज्ञान* इत्यादि के अलग-अलग रुझान थे। *प्रभा* (पहले खण्डवा, फिर कानपुर से प्रकाशित) का ही उदाहरण लें, तो उसने स्पष्ट तौर पर यह नीति बना ली थी कि उसमें धार्मिक एवं राजनीतिक दृष्टि से 'विवादास्पद' लेखों के लिए कोई जगह नहीं होगी।[22] यह जानना रोचक रहेगा कि किस प्रकार *विज्ञान* ने अपने आरंभिक वर्षों में अर्थशास्त्र, इतिहास, ललित कला और यहाँ तक कि आध्यात्मिक विषयों पर भी प्रमुखता से लेख छापे। लेकिन पाँच वर्षों की

अवधि में वह मूलतः विज्ञान-केन्द्रित पत्रिका बन गयी जिसमें रसायन शास्त्र, वैज्ञानिक आविष्कारों, गणित के सूत्र इत्यादि से संबंधित सामग्री छपने लगी थी। तो भी यह अलगाव पूरी तरह नहीं हुआ था। बहुत दिनों तक इन पत्रिकाओं को समाचार पत्रों की भूमिका निभानी पड़ी। पत्रिकाओं के कई पृष्ठ दैनंदिन की राजनीतिक, सामाजिक घटनाओं पर आधारित सनसनीख़ेज़ ख़बरों को समर्पित होते थे। भौगोलिक आधार पर भी इन पत्रिकाओं का फैलाव विस्तृत था। *मतवाला, विशाल भारत* इत्यादि कलकत्ता से निकलते थे, *ज्योति* लाहौर से छपती थी तो *हिन्दी चित्रमय जगत* का प्रकाशन पुणे से होता था। उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रांत हालाँकि इन प्रकाशनों के केन्द्र बने रहे।

जो गुणात्मक विभाजन आनेवाले वर्षों में स्पष्टतया पहचाना जाने लगा वह था सांस्कृतिक-साहित्यिक और विशुद्धतः राजनीति का, परन्तु थोड़ा-बहुत आदान-प्रदान फिर भी जारी रहा।

अस्तित्व बचाने की जद्दोजहद

उथल-पुथल भरे हिन्दी-प्रकाशनों के सामान्य परिदृश्य का एक अंदाज़ा प्रसिद्ध पत्रकार-लेखक शिवपूजन सहाय के इस पत्र से लगता हैः

> *प्रभा* बंद हो गयी। *प्रणवीर* भी बंद हो गया। *कर्मवीर* खण्डवा से निकाला चतुर्वेदी जी ने। पालीवाल जी ने आगरा से *सैनिक* अच्छा निकाला। बम्बई से *भगीरथ* भी अच्छा निकला। *प्रताप* ख़ूब बढ़िया निकल रहा है। *गोलमाल, मौजी* बंद। *भूत* जारी है। दिल्ली से मासिक *महारथी* निकलेगा। *अर्जुन* साप्ताहिक हो गया। *सत्यवादी* लाहौर चला गया। *माधुरी* का मूल्य 1/- बढ़ गया। कुछ मैटर बढ़ गया। *चाँद* का शिशु अंक, वेश्या अंक निकला। प्रवासी अंक निकलेगा। सती अंक भी। शिशु अंक के एक लेख पर टिप्पणी लिखने से रूठकर *प्रताप* पर *चाँद* ने पाँच हजार रुपए का नोटिस जारी किया था। मामला सम्मेलन (हिन्दी साहित्य सम्मेलन) ने लिया है। देखा चाहिए।[23]

उद्धरण से उस दौर के उथल-पुथल का पता चलता है कि एक तरफ़ कई नई पत्रिकाएँ परिदृश्य पर आ रही थीं तो दूसरी ओर कई बंद हो रही थीं। *चाँद* पत्रिका द्वारा विशेष तौर पर प्रकाशित शिशु अंक, सती अंक, वेश्या अंक यह बताता है कि अपनी बिक्री को बढ़ाने के लिए उन पत्रिकाओं द्वारा क्या-क्या तरीक़े अपनाए जाते थे। किसी पत्रिका की जीवित रहने की ताकत और उसकी विषय-वस्तु के विस्तार की क्षमता इस बात से आंकी जाती थी कि किस तरह का सांस्थानिक समर्थन उसे प्राप्त है। हालाँकि इसकी वजह से संपादकों और प्रकाशकों में अक्सर तनाव बनने की गुंजाइश रहती थी।

जब इंडियन प्रेस के समर्थन से *सरस्वती* का प्रकाशन हो रहा था तो *मॉडर्न रिव्यू* के प्रकाशक-संपादक रामानंद चटर्जी ने *विशाल भारत* शुरु किया। दूसरी तरफ़ एक धार्मिक संस्था भारत-धर्म-महामंडल *निगमागम चंद्रिका* नाम से एक पत्रिका प्रकाशित करती थी। *वीणा, ज्योति* आदि पत्रिकाएँ ट्रस्ट द्वारा संचालित होती थीं जिसके सदस्य कई रजवाड़ों के राजकुमार, ज़मींदार जैसे लोग होते थे। *वीणा* में तो पन्ने-के-पन्ने स्थानीय राजकुमारों की चरितावलियों को समर्पित होते थे। बाक़ायदा तस्वीरों के साथ। किसी स्व. डुंगरपुर नरेश के पूर्व सचिव सर विजय सिंहजी ने लिखा, "मेयो कॉलेज में पढ़ाई के दौरान आपने अंग्रेज़ी भाषा में वह महारत हासिल की कि आपके लेखों को पढ़कर या आपके भाषणों को सुनकर यह बता पाना मुश्किल ही था कि कोई भारतीय अंग्रेज़ी बोल रहा है। जिह्वा पर सरस्वती विराजती थीं।"[24] आगे देहरादून सैनिक अकादमी छोड़ने की उनकी इच्छा की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं, "उनसे बातचीत की गयी। लेकिन एक न चली। उस मौक़े पर अपनी राजपूती आन दिखाते हुए आपने अपने भविष्य के एक और रूप का संकेत दिया।"[25]

अपने संस्मरण में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस बात का उल्लेख किया है कि उनकी पत्रिका में इस तरह की बातों के लिए कोई जगह नहीं थीं। हालाँकि उनसे ऐसा कहा गया था। बतौर *सरस्वती* के संपादक के जो लक्ष्य उन्हें दिए गए थे उसमें

"1. वक़्त की पाबंदी करना,

2. मालिकों का विश्वासपात्र बनने की चेष्टा करना,

3. अपने हानि-लाभ की परवाह न करके पाठकों के हानि-लाभ का सदा ख़याल रखना और

4. न्यायपथ से कभी विचलित न होना" शामिल था।[26]

विशाल भारत के प्राथमिक उद्देश्यों में भारतीयता की विराट पहचान को भारत के बाहर ले जाना भी शामिल था। इसलिए उसमें प्रवासी भारतीयों से संबंधित मुद्दे भी होते थे। बनारसीदास चतुर्वेदी (संपादक), सी.एफ. ऐंड्रयूज़ इत्यादि लेखकों ने दक्षिण अफ़्रीका, फ़िजी, वेस्ट इंडीज़ में बसे भारतीय मज़दूरों की समस्याओं पर लगातार लेख लिखे। इसके प्रथम अंक में ही इस मुद्दे को लेकर एक ट्रस्ट बनाए जाने की घोषणा छपी थी जिसके प्रधान टैगोर थे और जदुनाथ सरकार, ऐंड्रयूज़ और चतुर्वेदी कार्यकारी परिषद में। असल में, प्रवासियों की पीड़ा का बखान अन्य पत्रिकाओं में भी होता था। प्रवासी अंक जैसे विशेषांक अक्सर निकाले जाते थे।

तस्वीरें और विज्ञापन

चर्चा का एक और महत्वपूर्ण बिन्दु है इन पत्रिकाओं में चित्रों और विज्ञापनों का प्रकाशन। इन पत्र-पत्रिकाओं में केवल लेख ही आकर्षण का केन्द्र नहीं होते थे। छपाई की अपेक्षाकृत ख़राब अवस्था के बावजूद चित्रों का प्रकाशन भी दर्शकों को आकर्षित करने का एक माध्यम था। *सरस्वती* के एक वार्षिक लेखा-जोखा में द्विवेदी जी ने हालिया क़ीमत-वृद्धि का कारण रंगीन चित्रों के प्रकाशन का बढ़ा ख़र्च बताया है। उनके अनुसार पूरे वर्ष (1908) के 564 पृष्ठों (पिछले वर्ष से पचास पृष्ठ ज़्यादा) में 91 बड़े आकार की तस्वीरों का प्रकाशन हुआ। जिनमें छह रंगीन थे और जिनकी छपाई का ख़र्च एक हज़ार वार्षिक सदस्यों के शुल्क के बराबर आया क्योंकि उनके ब्लॉक अमेरिका और इंग्लैंड से बनवाकर मंगवाए गए थे।[27] *सरस्वती* प्रतिष्ठित चित्रकार राजा रवि वर्मा और ग़ुलाम ख़स्तगीर के चित्रों का मुद्रण भी करती थी। द्विवेदी रंगीन चित्रों के प्रकाशन के मामले में अपने को अगुआ मानते हैं। अन्य पत्रिकाओं का मामला वे यह कहते हुए ख़ारिज कर देते हैं कि वे तकनीकी परिभाषा के मुताबिक़ रंगीन चित्र थे ही नहीं।

हालाँकि हिन्दी के छोटे बाज़ार में अव्वल रहने के बावजूद वह एक महंगी सफलता ही रही। कुछ तस्वीरें समाज-सुधार के मुद्दों से संबद्ध होती थीं, सो ज़्यादातर औरतों के सवाल को लेकर, उदाहरणार्थ — सधवा सास और विधवा बहू, बेमेल विवाह, अपने शराबी पति को पीटती शिक्षित युवती (स्पष्टतः अंग्रेज़ी पत्रिकाओं से प्रभावित), इत्यादि। दूसरी तरफ़ राजनीतिक कार्टूनों का प्रकाशन होता था जिनमें ज़्यादातर अंग्रेज़ी की प्रसिद्ध हास्य-व्यंग्य की पत्रिका *पंच* से लिए जाते थे। कुछ तस्वीरें और रेखाचित्र सुधार-विरोधी भी होते थे, विशेषकर स्त्रियों और अंग्रेजी शिक्षा को लेकर। स्त्रियों की प्रसिद्ध पत्रिका *चाँद* में पेंटिंग-शृंखला छपी थी जिसमें शिक्षा के कारण स्त्रियों में बढ़ती बेपरवाही और उनके पतियों की दुर्दशा का चित्रण था। प्रसंगवश, इस तरह के सारे प्रसंग कार्टून या रेखाचित्र की ही शक्ल में छपते थे जबकि दूसरी तरफ़ पाठकों की सौंदर्याभिरुचि को ध्यान में रखकर छापी गई तस्वीरों को लेकर एक दुविधा की स्थिति लगती थी। हालाँकि तत्कालीन पत्रिकाएँ उच्च-नैतिकता और राष्ट्रीयता की भावना के बोझ से ओत-प्रोत होती थीं, तो भी कुछ चित्र रीतिकालीन सौन्दर्याभिरुचि के अनुसार

होते थे जिसमें जंगल में घूमती स्त्री होती थी, या नदी-किनारे बैठी स्त्री या फिर खिड़की पर बैठी युवती होती थी और ब्रजभाषा में उसकी विरह-विह्वलता का वर्णन करता दोहा होता था। इस तरह के विषयों की (खिड़की पर बैठी युवती अपने विजेता पति की बाट जोह रही है) विविध छटा इन पत्रिकाओं का आवश्यक हिस्सा होते थे। इस तरह की तस्वीरें श्वेत-श्याम और रंगीन दोनों ही रूपों में छपती थीं। यह ध्यान देने की बात है कि उसी वक़्त महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं अन्य बौद्धिकों के नेतृत्व में रीतिकालीन कविता के विरुद्ध एक बड़ा आन्दोलन चल रहा था। जब *माधुरी* पर ऐसा आरोप लगा तो जवाब में उसने अश्लीलता एवं सौन्दर्याभिरुचि के बीच भेद किए जाने पर बल दिया। देवी सरस्वती सहित अन्य देवी-देवताओं की तस्वीरें उसके मुख्य पृष्ठ पर छपती थीं। जवा कुसुम तैल, काजल, रति रहस्य, अद्भुत अंगूठी इत्यादि के विज्ञापनों से इस दुविधा को और बल मिलता था। तथाकथित अश्लील चित्रों के प्रकाशन की तत्कालीन अवस्था का ज़िक्र महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी किया हैः

> विज्ञापन की छपाई और अपने मूल्य आदि के नियम आपके बाहु स्थान में हैं, क्योंकि उनकी घोषणा आप सबसे पहले ऊर्ध्व बाहु होकर करते हैं। ...अपने प्रेस की पुस्तकों के विज्ञापन आपके नेत्र स्थान में हैं क्योंकि उनकी तरफ आपकी हमेशा निगाह रहती है। ...अन्नदाता! आपके लुधियाना, लाहौर, अलीगढ़, मुरादाबाद और झाँसी आदि के मित्र, गुप्त और प्रसुप्त इत्यादि प्रकट, अप्रकट और प्रकटाप्रकट नामधारी विज्ञापनबाज हैं। इन कोकशास्त्रों, रतिशास्त्रीय और कामशास्त्री जीवों के दर्शन अंधी खोपड़ी के आदमियों को बहुत ही दुर्लभ हैं। ...जीवनी शक्ति आपकी सैकड़ों तरह के ताम्बूल विहार के, हज़ारों तरह के उपदंशहारक, प्रमेहमारक, शुक्रकारक दवाओं के, लाखों तरह के बीसा, पच्चीसा, तीसा यंत्र और उड्डीस, साबर, बृहत् साबर, महाबृहत् साबर, तंत्रों के अजीब-अजीब विज्ञापन हैं।[28]

ज़्यादातर पत्रिकाओं में विज्ञापन प्रकाशित करने के नियम और दर सुपरिभाषित होते थे। उदाहरणार्थ, *मर्यादा* पत्रिका में अलग-अलग पृष्ठों के अलग विज्ञापन-दर के अलावा तीन नियम भी उल्लिखित थे:

(1) बिना जाँच किए किसी विज्ञापन का प्रकाशन नहीं होगा,
(2) कम-से-कम एक कॉलम का विज्ञापन भेजने वालों को ही *मर्यादा* की मुफ़्त प्रति भेजी जाएगी, अन्यथा नहीं,
(3) विज्ञापन का भुगतान अग्रिम करना होगा।[29]

इस प्रवृत्ति को बाज़ार के दबाव के संदर्भ में समझना उपयुक्त रहेगा, क्योंकि प्रसार-संख्या अब भी चिन्तनीय ही थी। उसी प्रकार, नयी प्रकार की इन पत्रिकाओं के विज्ञापनदाता व्यावसायिक फ़ायदा उठाने का प्रयास भी कर रहे थे। अन्य चीज़ों के अलावा द्विवेदीजी समीक्षा स्तंभ के लिए जिस तरह की सामग्री प्राप्त कर रहे थे, उसमें *आस्ट्रिया की अंगूठी* और *हाथरस के चाकू* जैसी सामग्री भी होती थी।[30] *हंस* के सम्पादक प्रेमचंद ने इस तरह की दुविधा का वर्णन करते हुए लिखा है:

> प्रतियोगिता के इस युग में पत्र-पत्रिकाएँ भी अपने मालिकों और व्यवस्थापकों के हित में लाभ बढ़ाने के लिए दूसरे व्यवसायों के द्वारा कई हथकंडे इस्तेमाल करते हैं। ... कभी किसी प्रकार का विवाद छेड़ दिया जाता है या फिर कला के नाम पर अर्द्ध नग्न तस्वीरें छापी जाती हैं। प्रशासकों को अदालती नोटिसों द्वारा ख़ुश किया जाता है, लोगों को उनके गुप्त भेद बताने की धमकी देकर उनसे पैसे ऐंठे जाते हैं या फिर लोगों का ध्यान खींचने के लिए कोई सनसनीख़ेज़ समाचार प्रकाशित किया जाता है।[31]

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से बनते हुए एक सार्वजनिक क्षेत्र की हिन्दी परिभाषा 20वीं सदी की शुरुआत से नए मोड़ लेने लगी थी। इसमें बदलते हुए राजनीतिक संदर्भों का भी उतना ही हाथ था जितना कि बढ़ती हुई साक्षरता

की दर का, भले ही वह कितनी ही कम क्यों न रही हो। जहाँ पत्रिकाओं के फ़लक के विस्तार से एक बड़े फ़लक पर मुद्दों को समेटने की कोशिशें हुईं, वहीं दूसरी ओर बाज़ार में अपना अस्तित्व बनाए रखने की चिंता ने कई प्रयोगों को भी जन्म दिया। पर सफलता के फ़ार्मूले अभी भी इतने कम थे कि अधिकांश पत्रिकाएँ अपने रुख़ में सीमित ही रहीं। वहीं दूसरी ओर कुछ पत्रिकाओं की विषय-वस्तु में विविधता ने भी एक खिचड़ी क़िस्म की पत्रकारिता को जन्म दिया जो एक साथ साहित्यिक विवादों को भी जगह दे सके और रोज़-ब-रोज़ की सनसनीख़ेज़ ख़बरों को भी।

लेकिन सुधारवादी एजेंडा के तहत विज्ञापनों में भी सुधार की कोशिश की जाती थी। बनारसी दास चतुर्वेदी ने उग्र को लिखे एक पत्र में उनके एक उपन्यास के विज्ञापन को अस्वीकृत करने का कारण बताते हुए लिखा है:

> *चुम्बन* नामक ब्लॉक भेज रहा हूँ। *मॉडर्न रिव्यू* वाले मॉडर्न हैं और मैं कुछ पुराने ख़यालात का हूँ। आपको यह बतला देना चाहता हूँ कि मॉडर्न रिव्यू वालों का विशाल भारत के लिए लेखकों या चित्रों के अलावा विज्ञापनों के चुनाव पर कुछ दख़ल नहीं है। मार्च के अंक में प्रथम स्थान पर — A Harem Scene — छपा है जिसमें टुंडी को खोले हुए और कुचों को उकसाये हुए एक स्त्री खड़ी है। मैंने कह दिया कि मैं उस चित्र को नहीं दूँगा। ... आप स्त्री पुरुष के चुम्बन के बजाय माता और पुत्र के चुम्बन का ब्लॉक बनवाइए। मेरी यह serious सलाह है।[32]

चतुर्वेदी की पत्रिका में प्रकाशित होनेवाले ज़्यादातर विज्ञापन बंगाल केमिकल्स की आयुर्वेदिक दवाइयों के होते थे और चित्तरंजन दास और पी सी राय द्वारा अनुमोदित होते थे। पुस्तकों के विज्ञापन भी इसी दुविधा का शिकार लगते थे। हालाँकि इन पत्रिकाओं का उद्देश्य सद्साहित्य का प्रचार-प्रसार था, लेकिन बाज़ार के दबाव की वजह से चालू साहित्य के विज्ञापनों को उन्हें अपने काफ़ी पृष्ठ देने पड़ते थे। जैसे कि *मर्यादा* में 'उपन्यास बहार ऑफिस, काशी' के विज्ञापनों का लगातार प्रकाशन होता था। उनके विज्ञापन 10-12 पृष्ठों के होते थे, जिसमें *सफ़ेद खून, पैशाचिक कांड* जैसे जासूसी उपन्यासों के अलावा पारसी थिएटर के नाटकों के टाइटल्स होते थे जिनमें शेक्सपियर के नाटकों के रूपांतर किए हुए सनसनीख़ेज़ शीर्षक होते थे — जैसे कि *काली नागिन* (जूलियस सीज़र), *ख़ूने नाहक* (हैमलेट), इत्यादि।

प्रसार संख्या और पाठकवर्ग

विज्ञापनों और बिक्री के लिए अपनाए जाने वाले तमाम हथकंडों के पीछे मुख्यतः इन पत्रिकाओं का अनिश्चित पाठक वर्ग था। 1911 के संयुक्त प्रांत की जनगणना रिपोर्ट के लेखक ने लिखा था, "किसी साक्षर भारतीय के बारे में सबसे पहले किसी यूरोपीय का जो चीज ध्यान खींचती हैं वह यह कि वह अपनी साक्षरता के साथ कुछ ख़ास करता दिखाई नहीं देता और सबसे कम तो अपने मनोरंजन के उद्देश्य से"।[33] बावजूद इसके यदि हम बाद के वर्षों में निरंतर फैलते पाठक वर्ग पर ध्यान केंद्रित करें तो यह टिप्पणी ग़लत साबित होती दिखाई देती है। यह ज़रूर है कि इन पत्रिकाओं के पाठकवर्ग को चिह्नित करना, ख़ासकर न्यूनतम साक्षरता के उस दौर में, ख़ासा मुश्किल काम है। पर लोगों में बढ़ती राजनैतिक जागरूकता, एक नई प्रकार की संचार विधा के प्रति निरंतर बढ़ती उत्सुकता आदि ने मिलकर लोगों को इन पत्रिकाओं की तरफ़ ध्यान देने को विवश किया। ज़ाहिर है कि उस छोटे से बाज़ार में ज़रूरत से ज़्यादा प्रतियोगियों का होना उनमें से अनेकों को असमय ही समाप्त कर देता था। पर साथ ही साथ इस पाठक वर्ग की बदलती रुचियों के हिसाब से पत्रिकाओं की विषयवस्तु में भी परिवर्तन आता गया। जहाँ इसका पाठकवर्ग अधिकांशतः शहरी और क़स्बाई क्षेत्रों से निकले हुए शिक्षक, वकील, पेशेवर वर्ग के लोग, ज़मींदार और समाज सुधारक जैसे लोग थे, वहीं दूसरी ओर बहुत सी पत्रिकाओं के ख़ास उद्देश्य से संचालित होने के कारण वे ख़ास वर्गों को ही संबोधित करते थे।

पत्रकारिता की उपयोगिता के संदर्भ में निरंतर बनी हुई अनिश्चितता तत्कालीन सरकारी रिपोर्टों से भी ज़ाहिर होती है। बिहार में *सर्चलाइट* के एकमात्र दैनिक होने के कारणों पर विचार करते हुए एक अधिकारी ने लिखा था, "यह तथ्य कि पूरे प्रदेश में एक अख़बार है ज़ाहिर करता है कि सामान्य जन ख़बरों के लिए दूसरे माध्यमों पर अभी भी निर्भर हैं और स्थानीय पत्रिकाओं को तत्कालीन घटनाओं पर उनकी टिप्पणी जानने के लिए ही ख़रीदते हैं"।[34]

जल्दी ही बदलते हुए राजनीतिक परिप्रेक्ष्य के मद्देनज़र पत्रिकाओं का विस्तार तेज़ी से बढ़ा। 1921 के आते-आते गांधी के असहयोग आंदोलन और ख़िलाफ़त आंदोलन का प्रभाव इतना ज़बरदस्त था कि मात्र संयुक्त प्रांत में, जहाँ 1918 में पत्रों की संख्या 18 थी, वह 1921 में बढ़कर 93 हो गई और उनकी प्रसार संख्या 24,000 से बढ़कर 82,000 हो गई।[35] वैसे प्रदेश की लगभग साढ़े चार करोड़ की जनसंख्या के मुक़ाबले यह संख्या बहुत कम थी। दूसरी तरफ़ 1921 तक पत्रिकाओं का विस्तार इतना हो चुका था कि केवल यू.पी. में इनकी संख्या बढ़कर 525 हो चुकी थी और 1927 तक आते-आते 641 हो गई थी। इनमें से 17 दैनिक थे, 197 साप्ताहिक, 284 मासिक और शेष अनिश्चिकालीन पत्र-पत्रिकाएँ थीं। इनमें 265 हिन्दी में थीं, 89 अंग्रेज़ी में, 82 उर्दू में। कुछ ख़ास पत्रिकाओं की प्रसार संख्या देखें तो 1923 में *प्रताप* की प्रसार संख्या 14,000 — *माधुरी* 6,000 — *प्रभा* की 3,000 और *अभ्युदय* की 3,000 थी।[36] 1940 तक आते-आते मात्र उत्तर प्रदेश में 14 पत्रिकाओं की कुल प्रसार संख्या बढ़कर 62,000 तक पहुँच गयी थी, जिसमें से *अभ्युदय* 4,000 — *चाँद* 3,000 — *माधुरी* 2,000 — *माया* (इलाहाबाद से प्रकाशित मासिक) 5,000 — *प्रताप* (इसके संस्थापक-संपादक — गणेश शंकर विद्यार्थी के निधन के बावजूद) 7,000 और *सरस्वती* की 5,000 हो चुकी थी।[37]

इन पत्रिकाओं के प्रसार-विस्तार पर एक संक्षिप्त नज़र डालने से यह भी दिखता है कि उनकी प्रकृति के अनुरूप ही उनकी प्रसार संख्या नियत थी। इस नाते जो ख़ास उग्र राजनीतिक विचार की पोषक थीं वे उन पत्रिकाओं के मुक़ाबले ज़्यादा बिकती थीं जो किसी ख़ास विषय पर ही केंद्रित हों, जैसे कि साहित्यिक। किन्तु इनका महत्व तब भी कम करके नहीं आँका जा सकता, ख़ासकर एक ऐसे समाज में जहाँ विचारों के प्रसार के तंत्र काफ़ी विविध और संश्लिष्ट थे।

संदर्भ

1. प्रकाशकीय वक्तव्य, *सरस्वती*, जनवरी 1900. जल्दी ही, 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा इसका संपादकीय भार संभालने के साथ-साथ 'मनोरंजन' पक्ष को हाशिए पर ढकेलने के प्रयास तेज़ हो गए.
2. *सरस्वती* के आरंभिक प्रकाशकीय वक्तव्य में ही विषयों का वर्णन इस प्रकार था, "गद्य, पद्य, महाकाव्य, नाटक, उपन्यास, चम्पू, इतिहास, जीवनी, हास्य, परिहास, पुरातत्व, विद्रूप, विज्ञान, शिल्प, कला आदि और नई पुस्तकों की समीक्षाएँ", 'भूमिका', *सरस्वती*, इलाहाबाद, जनवरी 1900.
3. टेरी ईगल्टन के अनुसार, "*मैन ऑफ़ लेटर्स* एक सामान्य वैचारिक बौद्धिकता का वाहक होता है. बजाय एक ख़ास बौद्धिक विशेषज्ञता के वह अपने दौर के पूरे सांस्कृतिक और बौद्धिक परिदृश्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने वाला होता है" और "उसका काम वैचारिक तौर पर उखड़े हुए, अव्यवस्थित पाठक वर्ग को तत्कालीन विचारों, भौगोलिक खोजों से लेकर अभिजात

आलोचना तक की सामान्य और लोकप्रिय समझ प्रस्तुत करना है — इस बारे में उन्हें शिक्षा देना है, उस समझ के आधार को ठोस रूप प्रदान करना है". *द फ़ंक्शन ऑफ़ क्रिटिसिज़्मः फ़्रॉम द स्पेक्टेटर टू पोस्ट-स्ट्रक्चरलिज़्म*, टेरी ईगल्टन, वर्सो, लंदन, 1984, पृ. 45, 48.

4. श्रीनारायण चतुर्वेदी, *सरस्वती की कहानी*, श्री नारायण चतुर्वेदी (संपा.), *सरस्वती*, हीरक जयंती अंक (1900-1950), इलाहाबाद, 1961, पृ. 13.
5. एलिज़ाबेथ आइज़ेंस्टाइन, *द प्रिंटिंग प्रेस ऐज़ एन एजेंट ऑफ़ चेंज*, केंब्रिज, 1979, पृ. 89.
6. सी ए बेली, *लोकल रूट्स ऑफ़ इंडियन पॉलिटिक्सः इलाहाबाद (1882-1920)*, क्लैरेण्डन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड, 1975, पृ. 20. बेली ने 19वीं सदी के इलाहाबाद के प्रचारकों की सूची दी है जिनमें 14 स्थानीय पत्रों से जुड़े थे, ऐसे वकील और शिक्षक जो बहुत सफल नहीं हो पाए थे — 9 पुराने संगठनों से जुड़े धर्म प्रचारक थे; दूसरे छह 'जाति' या 'गो-रक्षा आंदोलन' से जुड़े संगठनों आदि द्वारा जोड़े गए थे. उनके अनुसार, "उनमें सभी, दोनों ही प्रचार के 'पारंपरिक' और 'नए' मुहावरों के इस्तेमाल में सिद्धहस्त थे और दोनों ही तरह के, नए सार्वजनिक संगठनों और शहरों और साथ-साथ ज़मींदारों के पुराने सामाजिक सत्ता-तंत्र को जोड़ने में सफल भी".
7. यहाँ यह तथ्य ध्यान देने लायक है कि इंडियन प्रेस के द्वारा छापी गई एक स्कूली पाठ्य-पुस्तक 'तृतीय रीडर' की भाषा की आलोचना के बाद ही उन्हें प्रेस के मालिक चिंतामणि घोष ने *सरस्वती* का संपादक बनने को आमंत्रित किया था.
8. 'साम्वत्सरिक सिंहावलोकन', म.प्र. द्विवेदी, *सरस्वती*, दिसम्बर 1904, *म.प्र. द्विवेदी रचनावली खण्ड-5* में पुनः प्रकाशित, पृ. 488-91, संपा. भारत यायावर, किताबघर, नई दिल्ली, 1995.
9. 'आत्मनिवेदन', म.प्र. द्विवेदी, *द्विवेदी रचनावली-5*, पृ. 518-27. द्विवेदीजी का यह वक्तव्य उनके 70वें जन्मदिवस के सम्मान समारोह में दिया गया था और इसका आयोजन काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने मई 1933 में किया था और यह उसी महीने की *सरस्वती* में प्रकाशित हुआ था. इस अवसर पर प्रकाशित 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ' का लोकार्पण ओरछा नरेश वीर सिंह जू देव के हाथों हुआ था. यह तथ्य दिलचस्प है कि 1930 के दशक में भी पत्रकारिता और हिन्दी समाज के रिश्ते तत्कालीन राजा-महाराजाओं से काफ़ी गहरे थे.
10. इनमें, *कर्मवीर* में कर्मवीर परिवार की समस्याओं का कभी उल्लेख न करना, कभी आर्थिक सहायता की अपील न करना, कभी सनसनीख़ेज़ ख़बरें प्रकाशित न करना आदि शामिल हैं. *हिन्दी पत्रकारिता के कीर्तिमान*, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, साहित्य संगम, इलाहाबाद, 1993, पृ. 194-205.
11. 'कुछ अपने विषय में', प्रेमचंद, *हंस*, बनारस, जून 1931. देखें, अमृत राय (संपा.), *विविध प्रसंग-3*, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृ. 493-4.
12. द्विवेदी, *पूर्वोक्त*, पृ. 518-27.
13. द्विवेदी 'कमल किशोर त्रिपाठी' के छद्मनाम से, 'समाचार पत्रों का विराट रूप', *सरस्वती*, नवंबर 1904, *द्विवेदी रचनावली-2*, पृ. 408-10.
14. बालमुकुंद गुप्त, 'संवाद पत्रों का इतिहास', *भारतमित्र*, दैनिक, कलकत्ता, झाबरमल्ल शर्मा और बनारसी दास चतुर्वेदी (संपा.), *बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली प्रथम भाग* में प्रकाशित, गुप्त स्मारक ग्रन्थ प्रकाशन समिति, कलकत्ता, संवत 2007, पृ. 255-7.
15. *वही*, पृ. 262-4.
16. रामलाल मिश्र, *बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ* से उद्धृत. देखें जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी *हिन्दी पत्रकारिता के कीर्तिमान*, साहित्य संगम, इलाहाबाद, 1993, पृ. 105-13.
17. बालमुकुन्द गुप्त, 'अपनी बात', *गुप्त निबन्धावली-भाग 1*, पूर्वोक्त, पृ. 396.
18. बनारसीदास चतुर्वेदी, 'सम्पादकीय विचार', *विशाल भारत*, संवत 1984, वर्ष 1, सं. 1, कलकत्ता.
19. मारियोला ऑफ़रेदी, 'द सर्च फ़ॉर नैशनल आइडेंटिटी ऐज़ रिफ़्लेक्टेड इन द हिन्दी प्रेस', मॉरियोला ऑफ़रेदी (संपा.), *लिट्रेचर लैंग्वेज एण्ड द मीडिया इन इण्डिया*, मनोहर, नई दिल्ली 1992, पृ. 246.
20. कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए बोस ने *कर्मवीर* की प्रशंसा राष्ट्रीय महासभा अर्थात राष्ट्रीय कांग्रेस का झंडा फहराये रखने और हर हफ़्ते देशभक्तिपूर्ण संदेशों द्वारा लोगों को प्रेरणा देने के लिए की थी. देखें जगदीश प्रसाद, *उपरोक्त*, पृ. 194-205.

21. *गुप्त निबंधावली*, उपरोक्त, पृ. 340.
22. 'प्रभा के नियम', *प्रभा*, चैत्र 1970 विक्रमी, वर्ष-1, संख्या-1, खण्डवा, मध्य प्रांत.
23. शिवपूजन सहाय का पत्र पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र के नाम, ता. 19-8-1925, *फ़ाइल और प्रोफ़ाइल*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 362.
24. *वीणा*, जबलपुर, मई 1912, पृ. 6.
25. *उपरोक्त*.
26. महावीर प्रसाद द्विवेदी, 'आत्म निवेदन', द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ के लोकार्पण के अवसर पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा में दिया गया भाषण. देखें *सरस्वती*, मई 1933.
27. 'वात्सरिक विज्ञप्ति', *सरस्वती*, दिसंबर 1908. देखें *द्विवेदी रचनावली-5*, पूर्वोक्त.
28. द्विवेदी, 'समाचार पत्रों की महिमा', पूर्वोक्त.
29. प्रथम पृष्ठ, *मर्यादा*, जनवरी 1916, अभ्युदय प्रेस, प्रयाग.
30. द्विवेदी, 'सम्पादकीय', *सरस्वती*, जनवरी-फ़रवरी 1908.
31. प्रेमचंद, 'साहित्यिक गुंडापन', *हंस*, अगस्त 1933. अमृत राय (संपा.) *विविध प्रसंग-3*, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृ. 102.
32. उग्र के नाम बनारसीदास चतुर्वेदी का पत्र, *फ़ाइल और प्रोफ़ाइल*, पूर्वोक्त, पृ. 225.
33. *सेंसस ऑफ़ इण्डियाः 1911*, यू.पी. ऑफ़ आगरा ऐण्ड अवध.
34. *'बिहार एवं उड़ीसा पर रिपोर्ट'*, 1923 की पत्र-पत्रिकाओं पर वार्षिक रिपोर्ट, होम (पॉलिटिकल) (कॉन्फ़िडेंशियल), फ़ाइल नं. 284/24, 1924.
35. *रिपोर्ट ऑन द वर्किंग ऑफ़ द सिस्टम ऑफ़ गवर्नमेंट ऑफ़ यूनाइटेड प्रॉविन्सेज़ ऑफ़ आगरा ऐण्ड अवध, 1921-1928*, सुपरिन्टेडेंट ऑफ़ गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद, यू.पी., 1928, पृ. 239-45.
36. वार्षिक रिपोर्ट, *पूर्वोक्त*, फ़ाइल संख्या 284.
37. *वार्षिक रिपोर्ट*, 1940. होम (पॉलिटिकल) (कॉन्फ़िडेंशियल), फ़ाइल संख्या 33/2/41—पॉलिटिकल (आई.), जनवरी 1941.